

श्रावक धर्म

(DR. Prem Suman Jain)

भगवान् महावीर ने श्रावक और श्रमण (मुनि) के लिये आभ्यन्तर शुद्धि हेतु विभिन्न व्रतों के धारण का विधान किया है। इससे जीव क्रमिक साधना में रत होकर आत्म स्वातन्त्र्य की उपलब्धि कर सकता है। जो व्यक्ति मुनि धर्म को अंगीकार करने में असमर्थ है वह श्रावक धर्म को ग्रहण कर सच्चा आत्म साधक गृहस्थ बन जाता है। महावीर ने कहा कि श्रावक और श्रमण के सारे व्रत अहिंसा की साधना के लिये हैं।

श्रावकाचार— श्रावक शब्द तीन गुणों के संयोग से बना है और इन तीनों वर्णों के क्रमशः तीन अर्थ हैं— (1) श्रद्धालु, (2) विवेकी और (3) क्रियावान। जिसमें इन तीनों गुणों का समावेश पाया जाता है वह श्रावक है। व्रतधारी गृहस्थ को श्रावक, उपासक और सागर आदि नामों से अभिहित किया जाता है। यह श्रद्धापूर्वक अपने गुरुजनों— मुनियों के प्रचन का श्रवण करता है, अतः यह श्राद्ध या श्रावक कहलाता है। श्रावक के आचार का वर्गीकरण कई दृष्टियों से किया जाता है।

श्रावक के द्वादश व्रत

ज्ञान, दर्शन और चारित्र की त्रिवेणी मुक्ति की ओर प्रवाहित होती है। किन्तु मानव— अपनी—अपनी क्षमता के अनुसार उसकी गहराई में प्रवेश करता है और अपनी शक्ति के अनुसार चारित्र को ग्रहण करता है। श्रावक घर में रहकर पारिवारिक, सामाजिक राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों का निर्वाह करते हुए मुक्तिमार्ग की साधना करता है।

दिगम्बर परम्परा में श्रावक धर्म पर चिन्तन करने वाले सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्द हैं। उन्होंने चारित्र पाहुड (गाथा 20 से 25) में केवल छः गाथाओं में श्रावकधर्म का वर्णन किया है। पहले सागरसंयमाचरण गृहस्थों में होता है। उसके पश्चात् 11 प्रतिमाओं के नाम बताये हैं। उसके पश्चात् सागरसंयमाचरण को 5 अणुव्रत, 3 गुणव्रत, और 4 शिक्षाव्रत रूप बताकर उनके नाम बताये हैं। यहाँ पर अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत के नाम का निर्देश है; किन्तु उनके सम्बन्ध में विशेष चर्चा नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द ने संलेखना को चतुर्थ शिक्षाव्रत माना है। पर उन्होंने देशावकाशिक व्रत को न गुणव्रतों में स्थान दिया है और न शिक्षाव्रतों में उनके अभिमतानुसार दिक्परिमाण, अनर्थदण्डवर्जन और भोगोपभोगपरिमाण— ये तीन गुणव्रत हैं; सामायिक, प्रोषध, अतिथिपूजा और संलेखना— ये चार शिक्षाव्रत हैं।

कुन्दकुन्द के रयणसार ग्रन्थ में भी श्रावकाचार का निरूपण है। 72 गाथाओं में श्रावकधर्म पर चिन्तन किया है। स्वामी कार्तिकेय ने श्रावकधर्म पर पृथक रचना कर अनुप्रेक्षा नामक ग्रन्थ में धर्म भावना का चिन्तन करते हुए श्रावकधर्म का विस्तार से वर्णन किया है। उन्होंने गृहस्थधर्म के बारह भेद बताये हैं—सम्यग्दर्शनयुक्त, मृदादि स्थूलदोषरहित, व्रतधारी, सामायिकव्रती, पर्वव्रती, प्रासुक—आहारी, रात्रिभोजनविरत, मैथुन—त्यागी, आरम्भत्यागी, संगत्यागी, कार्यानुमोदविरत और उद्दिष्टाहारविरत ।

स्वामी समंतभद्र ने सर्वप्रथम संखज में दिगम्बर परम्परा में श्रावकाचार पर स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की। उनकी रत्नकरंड श्रावकाचार बहुत ही महत्वपूर्ण रचना है। उन्होंने सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन की

महिमा पर प्रकाश डाला है। आचार्य अमितगति ने उपासकाध्ययन नामक एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की है। वह अमितगति श्रावकाचार के नाम से विश्रुत है। इसमें 14 परिच्छेदों में श्रावकधर्म का विस्तार से वर्णन है। पूर्व आचार्यों द्वारा लिखे हुए, विषय को इस ग्रन्थ में पल्लवित और पुष्पित किया गया है। आचार्य वसुनन्दि ने श्रावकाचार ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ की भाषा प्राकृत है। उन्होंने 11 प्रतिमाओं को आधार बनाकर श्रावकधर्म का प्रतिपादन किया है। सर्वप्रथम दार्शनिक श्रावक को सप्तव्यसन का त्याग आवश्यक माना है। उन्होंने सप्त व्यसनों के त्याग पर अत्यधिक बल दिया है। 12 व्रत और 11 प्रतिमाओं का वर्णन प्राचीन परम्परा के अनुसार ही किया है। सावयधम्मदोहा ग्रन्थ में मानव भव की दुर्लभता; देव, गुरु तथा दर्शन प्रतिमा का स्वरूप; अष्ट मूलगण की प्रेरणा देते हुए सप्त व्यसनों के दोष बताकर उनके त्याग पर बल दिया है। व्रत प्रतिमा और दान की चर्चा की गई है। इसमें अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रतों का उल्लेख है। उनको धारण करने से जीवन में किस प्रकार निर्मलता आती है, उसका भी प्रतिपादन है।

श्रावक के द्वादश व्रतों में पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों की गणना की गयी है। वस्तुतः इन व्रतों का मूलाधार अहिंसा है। अहिंसा से ही मानवता का विकास और उत्थान होता है, यही संस्कृति की आत्मा है और है आध्यात्मिक जीवन की नींव।

अणुव्रत

हिंसा, असत्य चोरी, कुशील और मूर्च्छा—परिग्रह इन पाँच दोष या पापों से स्थूलरूप या एक देशरूप से विरत होना अणुव्रत है। अणुशब्द का अर्थ लघु या छोटा है। जो स्थूलरूप से पाँच पापों का त्याग करता है, वही अणुव्रत का धारी माना जाता है। अणुव्रत पाँच हैं—

(1) **अहिंसाणुव्रत**— स्थूलप्राणातिपातविरमण— जीवों की हिंसा से विरत होना अहिंसाणुव्रत है। अहिंसा का अर्थ मनसा, वाचा और कर्मणा प्राणीमात्र के प्रति सद्भावना और प्रेम रखना है। दम्भ, पाखण्ड, ऊँच—नीच की भावना, अभिमान, स्वार्थबुद्धि, छल—कपट प्रभृति भावनाएँ हिंसा हैं। अहिंसा में त्याग है, भोग नहीं। जहाँ राग—द्वेष है, वहाँ हिंसा अवश्य है। अतः राग—द्वेष की प्रवृत्ति का नियंत्रण आवश्यक है।

हिंसा चार प्रकार की होती है :— (1) संकल्पी, (2) उद्योगी, (3) आरम्भी और (4) विरोधी। निर्दोष जीव का जानबूझकर वध करना संकल्पी; जीविका— सम्पादन के लिये कृषि, व्यापार नौकरी आदि कार्यों द्वारा होनेवाली हिंसा उद्योगी ; सावधानीपूर्वक भोजन बनाने, जल भरने आदि कार्यों में होनेवाली हिंसा आरम्भी एवं अपनी या दूसरों की रक्षा के लिये की जानेवाली हिंसा विरोधी हिंसा कहलाती है। प्रत्येक गृहस्थ को संकल्पपूर्वक किसी भी जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिये। अहिंसाणुव्रत का धारी गृहस्थ संकल्पी हिंसा का नियमतः त्यागी होता है। इस हिंसा के त्याग द्वारा श्रावक अपनी कायिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्तियों को शुद्ध करता है। अहिंसक यतनाचार का धारी होता है। अहिंसाणुव्रत का धारी जीव त्रसहिंसा का त्याग तो करता ही है, साथ ही स्थावर— प्राणियों की हिंसा का भी यथाशक्ति त्याग करता है।

2—सत्याणुव्रत— अहिंसा और सत्य का परस्पर में घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक के अभाव में दूसरे की साधना शक्य नहीं। ये दोनों परस्पर पूरक तथा अन्योन्याश्रित हैं। अहिंसा सत्य को स्वरूप प्रदान करती

है और सत्य अहिंसा की सुरक्षा करता है अहिंसा के बिना सत्य नग्न एवं कुरूप है। अतः मृषावादका त्याग अपेक्षित है। स्थूल झूठ का त्याग किये बिना प्राणी अहिंसक नहीं हो सकता है। वचन के दोष से व्यक्ति और समाज दोनों में दोष उत्पन्न होता है। अतएव मृषावाद का त्याग आवश्यक है।

3-अचौर्याणुव्रत—मन, वाणी और शरीर से किसी की सम्पत्ति को बिना आज्ञान न लेना अचौर्याणुव्रत है। स्तेय या चोरी के दो भेद हैं— (1) स्थूल चोरी और (2) सूक्ष्म चोरी। जिस चोरी के कारण मनुष्य चोर कहलाता है, न्यायालय से दण्डित होता है और जो चोरी लोक में चोरी कही जाती है, वह स्थूल चोरी है। मार्ग चलते-चलते तिनका या कंकड़ उठा लेना सूक्ष्म चोरी के अन्तर्गत है। किसी के घर में संध लगाना, किसी का पॉकेट काटना, ताला तोड़ना, लूटना, ठगना आदि चोरी है। अचौर्याणुव्रत के धारी गृहस्थ को एकाधिकार पर भी नियंत्रण करना चाहिए। समस्त सुविधाएँ अपने लिए सन्चित करना तथा आवश्यकताओं को अधिक-से-अधिक बढ़ाते जाना भी स्तेय के अन्तर्गत है।

4-स्वदारसन्तोष व्रत — मन, वचन और कार्यपूर्वक अपनी भार्या के अतिरिक्त शेष समस्त स्त्रियों के साथ विषयसेवन का त्याग करना स्वदारसन्तोषव्रत है। जिस प्रकार श्रावक के लिए स्वदारसन्तोषव्रत का विधान है उसी प्रकार श्राविका के लिए स्वपतिसन्तोष का नियम है। नियंत्रित रूप में विषय का सेवन करना और परस्त्रीगमन का त्याग करना ब्रम्हचर्याणुव्रत या स्वदारसन्तोष में परिगणित है। यह अणुव्रत जीवन को मर्यादित करता है और मैथुन सेवन को नियंत्रित करता है।

5-परिग्रहपरिमाण व्रत—परिग्रह संसार का सबसे बड़ा पाप है। श्रावक अपनी इच्छाओं को नियंत्रित कर परिग्रह का परिमाण ग्रहण करता है। संसार के धन, ऐश्वर्य आदि का नियमन कर लेना परिग्रह-परिमाणव्रत है। अपने योग-क्षेम के लायक भरणपोषण की वस्तुओं को ग्रहण करना तथा परिश्रम कर जीवनयापन करना न्याय और अत्याचार द्वारा धन का संचय न करना परिग्रहपरिमाण है। ममत्व या लालसा को घटाकर वस्तुओं को नियमित या कम करना परिग्रहपरिमाणव्रत है। इस व्रत का लक्ष्य समाज की आर्थिक विषमता को दूर करना है।

गुणव्रत और शिक्षाव्रत

श्रावक धर्म में गुणव्रत और शिक्षाव्रत अहिंसा की साधना को और गहन करने के लिए हैं। गुणव्रत तीन हैं— (1) अपनी इच्छाओं को सीमित करने के लिये सभी दिशाओं का परिमाण करना दिग्व्रत है। (2) वस्तुओं के प्रति आसक्ति भाव कम करने के लिये उनकी सीमा निर्धारित करना भोगोपभोग परिमाण व्रत है। (3) निरर्थक कार्यों को नहीं करना अनर्थदण्ड व्रत है। उदाहरणार्थ, दूसरे के सम्बन्ध में बुरा नहीं सोचना, हिंसक कार्यों का उपदेश नहीं देना, आवश्यक वस्तुओं का दुरुपयोग नहीं करना आदि।

शिक्षाव्रत चार हैं— (1) सभी पदार्थों में समभाव को रखते हुए अपने स्वरूप में लीन होना सामायिक है। (2) सामायिक की स्थिरता के लिये उपवासपूर्वक धार्मिक कार्यों में समय व्यतीत करना प्रोषधोपवास है। (3) कषायों को कम करने के लिए प्रतिदिन दिशाओं की तथा भोगोपभोग की वस्तुओं की मर्यादा करना देश व्रत है। (4) आत्म साधना में रत अतिथियों के लिये आहार, औषध आदि देना

अतिथि संविभाग व्रत है। इसे वैयावृत्य भी कहा गया है, जिसमें मुनियों की सेवा सुश्रुषा का भी विधान है।

1—दिग्रत— अर्थलोलुपी मानव तृष्णा के वश होकर विभिन्न देशों में परिभ्रमण करता है और विदेशों में व्यापार संस्थान स्थापित करता है। मनुष्य की इस निरंकुश तृष्णा को नियंत्रित करने के लिए दिग्रत का विधान किया गया है। पूर्वादि दिशाओं, में नदी, ग्राम,नगर आदि प्रसिद्ध स्थानों की मर्यादा बाँधकर जन्मपर्यन्त उससे बाहर न जान और उसके भीतर लेन—देन करना दिग्रत है। इस व्रत के पालन करने से क्षेत्रमर्यादा के बाहर हिंसादि पापों का त्याग हो जाता है और उस क्षेत्र में वह महाव्रतीतुल्य बन जाता है।

2—देशावकाशिक व्रत—दिग्रत में जीवन—पर्यन्त के लिए दिशाओं का परिमाण किया जाता है। इसमें किये गये परिमाण में कुछ समय के लिए किसी निश्चित देश पर्यन्त आने—जाने का नियम ग्रहण करना देशावकाशिक व्रत है।

3—अनर्थदण्डव्रत—बिना प्रयोजन के कार्यों का त्याग करना अनर्थदण्डव्रत कहलाता है। जिनसे अपना कुछ भी लाभ न हो और व्यर्थ ही पाप का संचय होता हो, ऐसे कार्यों को अनर्थदण्ड कहते हैं और उनके त्याग को अनर्थदण्डव्रत कहा जाता है।

शिक्षाव्रत के चार भेद हैं— 1. सामायिक, 2. प्रोषधोपवास, 3. भोगोपभोगपरिमाण और 4. अतिथिसंविभाग।

1—सामायिक— तीनों सन्ध्याओं में समस्त पाप के कर्मों से विरत होकर नियत स्थान पर नियत समय के लिए मन, वचन और काय के एकाग्र करने को सामायिकव्रत कहते हैं। जितने समय तक व्रती सामायिक करता है, उतने समय तक वह महाव्रती के समान हो जाता है। समभाव या शान्ति की प्राप्ति के लिए सामायिक किया जाता है।

2—प्रोषधोपवास— पाँचों इन्द्रियों अपने— अपने विषय से निवृत्त होकर उपवासी— नियंत्रित रहे, उसे उपवास कहते हैं। प्रोषध अर्थात् पर्व के दिन उपवास करना प्रोषधोपवास है। साधारणतः चारों प्रकार के आहार का त्याग करना उपवास है, पर सभी इन्द्रियों के विषय भोगों से निवृत्त रहना ही यथार्थ में उपवास है। प्रोषधोपवास से ध्यान, स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य और तत्वचिन्तन आदि की सिद्धि होती है।

3—भोगोपभोगपरिमाण— आहार— पान,गन्ध—माला आदि को भोग कहते हैं। जो वस्तु एकबार भोगने योग्य है, वह भोग है और जिन वस्तुओं को पुनः पुनः भोगा जा सके वे उपभोग हैं। इन भोग और उपभोग की वस्तुओं का कुछ समय के लिये अथवा जीवन— पर्यन्त के लिए परिमाण करना भोगोपभोगपरिमाणव्रत है। इस व्रत के पालन करने से लोलुपता एवं विषयवोँछा घटती है।

4—अतिथिसंविभाग— जो संयमरक्षा करते हुए विहार करता है अथवा जिसके आने की कोई निश्चित तिथि नहीं है, वह अतिथि है। इस प्रकार के अतिथि को शुक्रदचित्त से निर्दोष विधिपूर्वक आहार देना अतिथिसंविभागव्रत है। इस प्रकार के अतिथियों को योग्य औषध, धर्मोपकरण, शास्त्र आदि देना इसी व्रत में सम्मिलित है।

श्रावक दैनिक षट्कर्म—

श्रावक अपना सर्वांगीण विकास निर्लिप्तभाव से स्वकर्तव्य का सम्पादन करते हुए घर में रहकर भी कर सकता है। दैनिक कृत्यों में षट्कर्मों की गणना की गई है।

1—देवपूजा— देवपूजा शुभोपयोग का साधन है। पूज्य या अर्च्य गुणों के प्रति आत्मसमर्पण की भावना ही पूजा है। पूजा करने से शुभराग की वृद्धि होती है, पर यह शुभराग अपने स्व को पहचानने में उपयोगी सिद्ध होता है पूजा के दो भेद हैं— द्रव्यपूजा और भावपूजा। अष्टदेवों से वीतराग और सर्वज्ञदेव की पूजा करना द्रव्यपूजा है और बिना द्रव्य के केवल गुणों का चिन्तन और मनन करना भावपूजा है। भावपूजा में आत्मा के गुण ही आधार रहते हैं, अतः पूजक को आत्मानुभूति की प्राप्ति होती है। सरागवृत्ति होने पर भी पूजन द्वारा रागद्वेष के विनाश की क्षमता उत्पन्न होती है। पूजा सम्यग्दर्शनगुण को तो विशुद्ध करती ही है, पर वीतराग आदर्श को प्राप्त करने के लिए भी प्रेरित करती है। यह आत्मोत्थान की भूमिका है।

2. गुरुभक्ति— गुरु का अर्थ अज्ञान— अन्धकार को नष्ट करनेवाला है। यह गुरु तपस्वी और आरम्भपरिग्रहरहित होता है। जीवन में संस्कारों का प्रारम्भ गुरुचरणों की उपासना से ही सम्भव है। इसी कारण गृहस्थ के दैनिक षट्कर्मों में गुरुपास्ति को आवश्यक माना है। अतः गुरु के पास सतत निवास करने से मन, वचन, कायकी विशुद्धि स्वतः होने लगती है और वाक्संयम, इन्द्रियसंयम तथा आहारसंयम भी प्राप्त होने लगते हैं।

3—स्वाध्याय— स्वाध्याय का अर्थ स्व— आत्मा का अध्ययन—चिन्तन—मनन है। प्रतिदिन ज्ञानार्जन करने से राग के त्याग की शक्ति उपलब्ध होती है। स्वाध्याय समस्त पापों का निराकरण कर रत्नत्रय की उपलब्धि में सहायक होता है। बुद्धिबल और आत्मबल का विकास स्वाध्याय द्वारा होता है। स्वाध्याय द्वारा संस्कारों में परिणामविशुद्धि होती है और परिणामविशुद्धि ही महाफलदायक है। मन को स्थिर करने की दिव्यौषधि स्वाध्याय ही है। हेय— उपादेय और ज्ञेय की जानकारी का साधन स्वाध्याय है। स्वाध्याय यह पीयूष है जिससे संसाररूपी व्याधि दूर हो जाती है। अतएव प्रत्येक श्रावक को आत्मतन्मयता, आत्मनिष्ठा, प्रतिभा, मेधा आदि के विकास के लिये स्वाध्याय करना आवश्यक है।

4—संयम— इन्द्रिय और मन का नियमन कर संयम में प्रवृत्त होना अत्यावश्यक है। कषाय और विकारों का दमन किये बिना आनन्द की उपलब्धि नहीं हो सकती है। संयम ही ऐसी औषधि है, जो रागद्वेषरूप परिणामों को नियंत्रित करता है। संयम के दो भेद हैं— 1. इन्द्रियसंयम और 2. प्राणिसंयम। इन दोनों संयमों में पहले इन्द्रियसंयम का धारण करना आवश्यक है क्योंकि इन्द्रियों के वंश हो जाने पर ही प्राणियों की रक्षा सम्भव होती है। इन्द्रिय सम्बन्धी अभिलाषाओं, लालसाओं और इच्छाओं का निरोध करना इन्द्रिय संयम के अन्तर्गत है। विषय कषायों को नियंत्रित करने का एकमात्र साधन संयम है। जिसने इन्द्रियसंयम का पालन आरम्भ कर दिया है वह जीवननिर्वाह के लिये कम—से—कम सामग्री का उपयोग करता है, जिससे शेष सामग्री समाज के अन्य सदस्यों के काम आती है, संघर्ष कम होता है और

विषमता दूर होती है। यदि एक मनुष्य अधिक सामग्री का उपभोग करे तो दूसरों के लिये सामग्री कम पड़ेगी, जिससे शोषण आरम्भ हो जायेगा। अतएव इन्द्रियसंयम का अभ्यास करना आवश्यक है प्राणिसंयम में षट्काय के जीवों की रक्षा अपेक्षित है। प्राणिसंयम के धारण करने से अहिंसा की साधना सिद्ध होती है और आत्मविकास का 5- आरम्भ होता है।

5-तप- इच्छानिरोध को तप कहते हैं। जो व्यक्ति अपनी महत्वाकांक्षाओं और इच्छाओं का नियंत्रण करता है, वह तप का अभ्यासी है। वास्तव में अनशन, ऊनोदर, आदि तपों के अभ्यास से आत्मा में निर्मलता उत्पन्न होती है। अहंकार और ममकार का त्याग भी तप के द्वारा ही सम्भव है। रत्नत्रय के अभ्यासी श्रावक को अपनी शक्ति के अनुसार प्रतिदिन तप का अभ्यास करना चाहिए।

6- दान- शाक्त्यनुसार प्रतिदिन दान देना चाहिए। सम्पत्ति की सार्थकता दान में ही है। दान सुपात्र को देने से अधिक फलवान् होता है। यदि दान में अहंकार का भाव आ जाय तो दान निष्फल हो जाता है। श्रावक मुनि, आर्यिका, क्षुल्लिका, क्षुल्लक, ब्रम्हचारी, व्रती आदि को दान देकर शुभभावों का अजन करता है।

ग्यारह प्रतिमाएं

श्रावक अपने आचार के विकास के हेतु मूलभूत व्रतों का पालन करता हुआ सम्यग्दर्शन की विशुद्धि के साथ चारित्र में प्रवृत्त होता है। उसके इस चारित्रिक विकास या आध्यात्मिक उन्नति के कुछ सोपान हैं जो शास्त्रीय भाषा में प्रतिमा या अभिग्रहविशेष कहे जाते हैं। वस्तुतः ये प्रतिमाएँ श्रमणजीवन की उपलब्धि का द्वार हैं। श्रावकारचार के विकास की सीढ़ियाँ हैं। जो इन सोपानों का आरोहण कर उत्तरोत्तर अपने आचार का विकास करता जाता है वह श्रमणजीवन के निकट पहुँचने का अधिकारी बन जाता है। ये सोपान प्रतिमाएँ ग्यारह हैं—

1. दर्शन प्रतिमा,
2. व्रत प्रतिमा,
3. सामायिक प्रतिमा ,
4. प्रोषध प्रतिमा,
5. सचित्तविरत-प्रतिमा,
6. दिवामैथुन या रात्रिभुक्तित्याग प्रतिमा,
7. ब्रम्हचर्य प्रतिमा,
8. आरम्भत्याग प्रतिमा,
9. परिगृहत्याग प्रतिमा,
10. अनुमतित्याग प्रतिमा,
11. उदिदष्टत्याग प्रतिमा।